तीसरी हथेली

राजी सेठ

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

से उत्सुक, छोटे डॉक्टर के पास स्टूल पर बैठा गौर से उनका चेहरा देखता हुआ।

मुझे अपने चेहरे पर यूँ, एकटक देखते देख छोटे डॉक्टर के मुख पर एक बेहद छोटा कोमल-सा स्मित—पुरानी पहचान देता हुआ—लरजा...

और डूब गया। उनकी हँसती-सी आँखों की उजास एक ही पल में सिकुड़न बन उनकी दोनों भवों के बीच रूठकर बैठ गई।

बिना कुछ बोले उन्होंने मेरी नाड़ी हाथ में ले ली। उन उँगलियों के नीचे दबी नाड़ी की फड़कन में एकाग्रता के दबाव की कमी को महसूस करते ही मेरे भीतर कोई चीखकर उठ बैठा।

मुझे लगा...बेतरह लगा—मेरे अगली बार आने तक छोटे डॉक्टर एक असिस्टेंट रख चुके होंगे। अब उसे वह जल्दी-जल्दी दवा लिखवाया करेंगे और अपने हाथों का इस्तेमाल, अपने और अपने मरीज के बीच, घंटी के इस्पाती सीने से थरथराती हुई तेज-तर्रार आवाज़ की दीवार खींचने के लिए करेंगे।

अप्रैल, 1980

अपने दायरे

चिता की राख भी ठंडी हो गई। नौकरों के दबे-सहमे पाँवों में कुछ गति आई। घड़ियाँ फिर से समय आँकने लगीं। पूरा घर दिनचर्या में लौटने लगा।

माँ अतीत हो चुकी थीं। पापा पहले तो अत्यन्त रुआँसे से रहे फिर मौन हुए फिर धीरे-धीरे असाधारण रूप से गम्भीर होते गए।

माँ की वस्तुएँ घर के हर कोने में बिखरी थीं—मुखर, आँखें खोले, माँ की सदा के लिए बन्द हो गई आँखों से अधिक चौकन्नी। राह चलते बार-बार चेतना पर ऐसी टंकार देती थीं कि अवहेलना कर पाना कठिन हो जाता था। कच्चा घाव बार-बार दुःख जाता था।

पापा माँ के विषय में कोई बात नहीं करते थे। नौकरों से भरे दो प्राणियों के उस घर में माँ की बात न होने पर कोई और बात करने को रह ही नहीं जाती थी। माँ दिलो-दिमाग के सब कपाट खोलकर भीतर अवस्थित थीं...फिर भी बातचीत का हर सूत्र उनके आसपास भटककर लौट जाता था।

पापा शायद सोचते थे कि वह मुझे चोटीले प्रसंग से बचा रहे हैं और मैं सोचता था, मैं उन्हें। अतः मन को जो कुछ हर समय आक्रान्त किए रहता था राह नहीं पाता था। माँ का प्रसंग चलने से अवश्य बच जाता था, परन्तु सोच नहीं चुकती थी।

मैं घुमा-फिराकर पापा को उसी स्थल पर लौटा लाना चाहता हूँ। कहता

हूँ, "पापा, होस्टल जाने से पहले माँ की सारी चीजें स्टडी में रख जाऊँ ?"

पापा एक गुरु-गम्भीर-सी 'हूँ' करके चुप हो जाते हैं या कभी 'जैसा चाहो बेटा' के अस्फुट स्वर उनके होंठों में बुदबुदाते रहते हैं।

मैं सोचता हूँ, पापा कुछ आग्रह से कहें, या ऐसा करने की अनिवार्यता समझें, या साथ बैठने की हामी भरें तो मैं ऐसा कर सकूँ, परन्तु पापा हैं कि...।

दुःख की ऐसी अभिव्यक्ति पापा के व्यक्तित्व से कहीं मेल नहीं खाती। वह वस्तुओं और स्थितियों को कुछ दूसरी तरह से देखने के आदी हैं। दुःख के बारे में भी उनका एक अपना दृष्टिकोण है—"नो बॉडी हैज द पावर टू मेक यू अनहैप्पी अनलेस यू युअरसेल्फ वांट इट" यानी किसी अन्य व्यक्ति में आपको दुखी करने की ताकत नहीं है जब तक आप खुद ऐसा नहीं चाहते उनका निश्चित विचार है। दुःख या दुःख के महसूस करने की तीव्रता को वह एक अस्वाभाविक मनःस्थति मानते हैं और इस स्थिति के प्रति बहुत सहानुभूतिपूर्ण रवैया भी नहीं रख पाते।

यह सब फिर क्या है ? उनका घंटों इधर-से-उधर चहलकदमी करना या कुर्सी पर चुपचाप पड़े रहना...डरते-डरते कमरों में घुसना...संवाद की ज़रूरत महसूस न करना...और अस्वाभाविक कही जानेवाली मनःस्थिति को एक चादर की तरह ओढ़कर, दुबककर यहाँ-वहाँ बैठे होना।

मुझे घर आए पन्द्रह दिन हो गए हैं। अब तो होस्टल लौट जाने का समय भी आ गया। एक घबराहट सी मन को घेर रही है। मैं पापा को बार-बार उकसाता हूँ कि वह समय की नोक पर अटके, मेरे जाने के क्षण के दबाव को पहचानकर कुछ तो कहें, कुछ तो बाँटें, परन्तु पापा जिस सागर के किनारे बैठे हैं वह ठंड के आधिक्य से पूरी तरह जम गया है, उसमें कोई लहर नहीं उठती।

पूरी तत्परता से पापा मेरा ध्यान रखने का यत्न करते हैं। ऐसी तत्परता जिसके पीछे झाँकती हुई मेहनत उनके यत्न को कृत्रिम बना देने का भ्रम पैदा करने लगती है।

इधर-से-उधर टहलते खोए हुए से अचानक वह वही प्रश्न बार-बार पूछते हैं, "तूने लांड्री से कपड़े तो मँगा लिये हैं न ?...मंगल ने तेरे साथ के लिए नाश्ता बना दिया है या नहीं ?...तेरी माँ ने कोट सिलवाकर रखा था, निकलवा लिया क्या ? लेते जाओ, अब अप्रैल से पहले तो क्या आ पाओगे ?...लेकिन उनका हर प्रश्न आवाज की उद्विग्न फुसफुसाहट बनकर रह जाता है, वास्तविक चिन्ता का रूप नहीं ले पाता।

मैं जानता हूँ। मैं पापा की मुश्किलें समझता हूँ।

कल सुबह जाना है। मैं सोचता हूँ यह काम यों ही छोड़ दिया जाए। पापा मन से कुछ स्वस्थ होंगे तो स्वयं कर लेंगे, परन्तु पापा का स्वभाव और उनकी इस तरह की उखड़ी हुई मनःस्थिति देखते हुए मुझे लगता है कि उनमें वैसा लचीलापन नहीं है जो ऐसे किसी दबाव को बर्दाश्त कर सकें, या तो वह एकदम तने लगते हैं या एकदम टूटे लगते हैं; यह बात अलग है कि यह टूटन चाहे पहली बार देखी गई हो।

रात का खाना समाप्त हो चुका है। सोने के कमरे के बाहर, दालान में आरामकुर्सी पर मुँह में सिगार दबाए पापा चुपचाप जा बैठे हैं। मैं साथवाले कमरे की बत्ती जला देता हूँ और जान-बूझकर खटपट करता हूँ। पहले तो पापा सुनते रहते हैं, फिर "कुछ चाहिए, बेटा ?" फुसफुसाते हैं।

मैं अवसर खोना नहीं चाहता। कहता हूँ, "पापा, माँ का सामान बटोरकर स्टडी में रख देता हूँ। कल सुबह जाना है न ?"

एक अटूट ख़ामोशी। मैं प्रतीक्षा करता हूँ पर पापा कुछ भी नहीं कहते।

मैं माँ की ड्रेसिंग टेबल पर रखे सामान को कुछ अतिरिक्त आवाज से बक्से में डालता हूँ।

पापा की ओर से उठने का कोई उपक्रम नहीं होता। मैं एक के बाद एक चीज़ उठाता जाता हूँ और पैक करने लगता हूँ, परन्तु पापा नहीं हिलते।

मुझे आश्चर्य होता है कि क्यों उस क्षण मैं माँ के बारे में कम और पापा के बारे में अधिक सोच रहा हूँ...जो कुछ भी मैं छू रहा हूँ, उसे महसूस नहीं कर पा रहा। क्यों वह दृश्य मुझ पर अधिक दबाव डाल रहा है जो अधमुँदी आँखों के पीछे सजग व्यथा-सा सिगार की राह सुलग रहा है ? मैं चाहने पर भी दरवाजे के बाहर बैठे पापा की उपस्थिति के एहसास से मुक्त नहीं हो पाता, शायद इसीलिए मैं माँ का सब कुछ एक निर्वैयक्तिक तरीके से सहेज रहा हूँ।

लगभग सब कुछ सिमट चुका है। माँ के पलंग से गद्दा ज्यों ही लपेटने को होता हूँ (माँ जब से मरी हैं, पापा ड्राइंगरूम के दीवान पर सोते हैं) कि पलँग पर खूब पतली-सी एक बुकलेट दिखाई देती है। उठाकर देखता हूँ। वह किसी बड़ी डायरी से संलग्न छोटी टेलीफोन पुस्तिका है जो साल पूरा होने पर फेंक दी गई थी। पढ़ने का उपक्रम किए बिना मैं उसके पन्ने पलटता हूँ। कुछ पुराने टेलीफोन नम्बर—जब पापा नागपुर में थे, तब के—छिटपुट लिखे हैं और शेष माँ की लिखावट में भरे हुए कुछ पन्ने हैं।

हाथ में पकड़े-पकड़े मैं सोचने लगता हूँ कि इसे पढ़ने का मेरा कोई अधिकार नहीं। इस पर मात्र पापा का अधिकार है। पढ़ते समय किसी प्रिय, अप्रिय, अतिप्रिय, गोपनीय, अतिवैयक्तिक सन्दर्भ के ज्ञान की सम्भावना से कुछ उद्विग्न-सा भी होता हूँ।

इस विचार से पुस्तिका को एक ओर रख देता हूँ। गद्दा उठाता हूँ, पलँग सरकाता हूँ, चादरें बटोरता हूँ, परन्तु मेरी एकाग्रता जैसे भंग हो गई है। एक लड़ाई भीतर छिड़ गई है। ध्यान बार-बार वहीं जाता है।

डायरी पर पापा के पूर्ण अधिकार के प्रति आश्वस्त होते हुए भी माँ को इस माध्यम से जान पाने का लोभ संवरण नहीं कर पाता।

मैं सोचना चाहता हूँ कि माँ मात्र पापा की ही थीं, उनकी हर वस्तु पर पापा का ही अधिकार है, पर इस विचार की मानसिक संगति नहीं बिठा पाता। मुझे सदा लगता रहता था, माँ में ऐसा बहुत-कुछ था जो किसी का भी नहीं था। स्नेह के आधिक्य में भी वह सदा दूर की चीज लगा करती थीं।

चार वर्ष पहले इंजीनियरिंग में एडमिशन मिल जाने की सूचना जब आई थी तो वह एकाएक रो दी थीं। वश के बाहर का उनका रोना उस दिन के अतिरिक्त किसी और दिन नहीं देखा मैंने। इससे पहले कि सम्बन्ध के स्वाभाविक क्रम को लाँघकर मन में अचानक उग आई तरलता से भीगकर मैं उन्हें सान्त्वना दे सकूँ, उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द कर लिया था। जब वह बाहर आई थीं तो एकदम निरुद्वेग और शान्त थीं—एक ऐसी दूरी कायम कर चुकी थीं जिसे लाँघ पाने की किसी में क्षमता नहीं होती।

ठीक जाने के दिन पापा तो थोड़े से अव्यवस्थित लगते भी थे, परन्तु वह एकदम स्थिर थीं। उनकी इस समय की मुद्रा को देखकर मैं उस दिन के उनके रोने के तर्क को न समझ सका था। बल्कि उस दिन के बाद से मुझे लगता रहा था कि वह मेरे जाने के दिन बहुत रोएँगी। वास्तव में मन-ही-मन उस क्षण का सामना करने से मैं डर भी रहा था, परन्तु स्टेशन पर विदा देते समय उनकी आँखें छलछलाई-भर थीं। जब मैं उनके पैर छूने बढ़ा तो मेरे दोनों कन्धे पकड़कर केवल इतना बोलीं—"बी, व्हाट यू वांट टू बी।"

खिंचाव से मुक्त हो चुके स्प्रिंग के तार की तरह आशीष में झनझनाता हुआ दर्द देर तक मेरे साथ चलता रहा था।

माँ में वह अनकहा, अनजाना क्या था, मैं कभी नहीं समझ पाया...परन्तु समझना अवश्य चाहता हूँ, अतः वह पुस्तिका जेब में खिसका लेता हूँ। कहीं चुभता तो है कि पापा के प्रति अपराध कर रहा हूँ, परन्तु उस क्षण अपनी जिज्ञासा को ही मैं अधिक महत्त्व देता हूँ। वैसी तटस्थता में पापा से प्रतिरोध की कोई आशंका भी नहीं है, यह विचार मुझे और भी आश्वस्त कर देता है।

मेरे पैरों में अचानक फुर्ती आ गई है। माँ का बचा-खुचा सामान मैं और भी तटस्थ होकर रख रहा हूँ। मेरी उत्सुकता उन्हीं पन्नों में कहीं लिपटी पड़ी है।

मैं अन्दर के दरवाजे की चिटकनी खोलकर ही अपने कमरे में जाने का यत्न करता हूँ। दालान से होकर जाने की बात नहीं सोच पाता, शायद पापा...।

कमरे में आकर डायरी को उलट-पलटकर देखता हूँ। इच्छा से लिखे हुए मनोद्‌गारों का दस्तावेज़ वह नहीं लगती मुझे, क्योंकि कुछ ही पन्ने छिटपुट तरीके से लिखे गए हैं। हाथ में आते-आते कुछ छिटक जाने और ठगे जाने की खिसियाहट मुझे घेर लेती है...मैं अकारण उदास होने लगता हूँ।

माँ कभी भी स्वभाव से अधिक मुखर नहीं रहीं, परन्तु अपने साथ होनेवाले क्षणों में भी...?

पहले के कुछ पन्ने नितान्त खाली हैं। आगे चलकर एक पन्ने पर केवल दिनांक लिखा हुआ है—4-1-71 और उसे एक वृत्त में घेर दिया है। उससे आगे के पन्ने पर बीचोबीच केवल एक ही शब्द है—आज।

उससे अगले पन्ने पर भी केवल एक ही शब्द—कल।

तीसरे पर—'आज' और 'कल' और इनके बीच एक बड़ा सा प्रश्नचिह्न।

पूरे पृष्ठ पर केवल एक-एक शब्द लिखकर माँ ने जैसे 'आज' और 'कल' के पूरे समयवृत्त को जीवन के एक कोरे पृष्ठ पर अडिग बिठा दिया है—मील नापनेवाले पत्थर की तरह। मैं शब्द की क्षमता के बारे में सोचता रह जाता हूँ।

11 जनवरी : धन-सम्पत्ति का ढेर सुख नहीं है, धन का अभाव भी सुख का अभाव नहीं है। जीवन की पूर्णता सुख है। उसकी अपनी परिभाषा है।

3 मार्च : किसी को पाना उसकी भीतरी यथार्थता को पाना है, उसके देह-समूह को पाना नहीं। हड़प लेने से कोई वस्तु हमारी नहीं हो जाती। पाना किसी व्यक्ति या वस्तु का भाग बनना है।

9 मार्च : उन सपनों को बार-बार याद करने से लाभ, जिन्हें न कभी खिलना है, न खुलना है, न किसी भटकन में जागना है, न किसी

बेसुध घड़ी सोना है...।

17 मई : आँधी, तूफान, बाढ़, वर्षा के थम जाने के बाद तट अवश्य दीखेंगे, यह कहना एक आस्था का प्रश्न है, एक ऐसी अभौतिक आशा का जिसे छोड़कर किसी का भी जीवित रहना कठिन है, परन्तु उस मानसिक मृत्यु का क्या नाम है जो तटों पर प्रतीक्षित खड़े रहकर ही हो जाती है। क्या डूबना ही मात्र दुर्घटना है ?

4 जून : नहीं, नहीं, नहीं, अधिकार-प्रयोग उत्तर नहीं हो सकता किसी बात का, स्नेह से भरी मनुहार हो सकता है। सत्ता केवल अधिकार का होना जानती है, पाना नहीं जानती।

7 जून : यह शरीर और शरीर के सारे दुःख-दर्द तुम्हारे लिए मात्र 'मेडिकल' और 'क्लिनिकल' प्रश्न हैं। पर मेरे लिए ?...मेरे लिए चुकते जाना है...क्षण-क्षण कुंठित होना...अपने मरने को तिल-तिल जीना...

अब तो कष्ट भी कष्टदायक नहीं लगता। चाहूँ तो इन फैसलों के विरुद्ध लड़ सकती हूँ...सफल-असफल लड़ाई भी लड़ सकती हूँ, पर इस निरन्तरता को बनाए रखने का कोई उत्साह नहीं, कोई इच्छा नहीं...।

याद आता है माँ का ऑपरेशन के लिए कठिनाई से तैयार होना। डॉक्टर कहता था, इस ऑपरेशन के लिए स्पाइनल एनीस्थीसिया काफी है, परन्तु माँ का एक ही हठ कि वह पूरी बेहोशी चाहती हैं, मौत जैसी ठंडी और बेदर्द। पापा बार-बार क्रोधित होते थे परन्तु माँ अडिग थीं। कहती थीं, इस शर्त के बिना हस्पताल न जाएँगी। पापा डॉक्टर से जनरल एनीस्थीसिया के प्रभाव की बात समझते रहे थे परन्तु, डॉक्टर ने माँ की मानसिक अवस्था को ध्यान में रखकर ऑपरेशन जनरल एनीस्थीसिया में ही किया। ऑपरेशन के बाद रक्त की आवश्यकता पड़ी थी। नानी, नाना, गौतम अंकल, मैं, केशो मामा—किसी का रक्त मैच नहीं हो सका। केवल पापा का रक्त ही मैचिंग निकला। पापा अक्सर इस बात को अतिरिक्त उलाहने से कहते थे कि आखिर मैं ही काम आया। माँ कभी कोई उत्तर नहीं देती थीं।

5 जनवरी, 1972 : यह कलम तुम्हारे विरुद्ध उठे, ऐसा मैंने कभी नहीं चाहा था...परन्तु आक्रोश, क्षोभ और विरोध का एक बवंडर मेरे मन

में हर घड़ी मँडराता है। तुम्हारी कटुता, क्रूरता, अविश्वास और सन्देह के विरुद्ध। उसे पार किए बिना सहज नहीं हुआ जा सकता। इससे मुक्ति पाए बिना सुन्दर नहीं कहा जा सकता, सुन्दर नहीं हुआ जा सकता। कोई शुरुआत नहीं की जा सकती। किसी अन्त को एक सिरे से दूसरे सिरे तक खींचा जा सकता है बस।

26 फरवरी, 1972 : एक कठघरे में खड़ा कर दिया जाना असह्य लगता है और अपनी सफाई देना उससे अधिक घृणित। गौतम तुम्हारे लिए एक व्यक्ति हो सकता है—एक तीसरा व्यक्ति, परन्तु मेरे लिए वह एक एक्सटेंशन है। विस्तार है व्यक्तित्व का। मेरे अन्तर्मन को समझकर वह अपने आप, अनजाने मुझ तक पहुँच जाता है...।

शरीर नहीं दिया है उसे, यह मात्र तुम्हारे सन्तोष के लिए कहती हूँ। दे सकती तो शायद सम्पूर्णता और समग्रता में जी सकती। इस अधूरे जीने से मुक्ति मिलती।

मैंने तुमसे कहा था, मुझे पूरा लो या पूरा जाने दो। स्वस्थ अधिकार दो या स्वस्थ मुक्ति, परन्तु तुमने सम्बन्ध को एक सामाजिक समझौते की तरह जीते रहने की रुग्ण चॉयस दी है...। पूरा मरना भी नहीं, पूरा जीना भी नहीं...।

अपनी शक्तियों को पहचानती नारी बहुत मधुर नहीं लगती शायद...।

8 अप्रैल : सड़ा-गला उपेक्षित अंग बनकर जीना नहीं चाहती दुर्गन्ध से घृणा है। स्वस्थ मुक्ति या स्वस्थ अधिकार। दूसरों की शर्तों पर ही जीना हो तो मरने की अपनी शर्तें क्या बुरी हैं ?

11 मई : संवेदनाएँ धीरे-धीरे जड़ होती जा रही हैं। अच्छा है, जीने का ढब आ गया है। जहाँ एहसास है वहाँ दर्द है, जहाँ एहसास ही नहीं वहाँ दर्द भी नहीं...।

दर्द को स्वीकारने की कोई क्षोभविहीन स्थिति है क्या ?

1 जुलाई : शारीरिक क्लान्ति में मन पत्ते की तरह काँपता है। धरती पर पड़ी पिन को जैसे चुम्बक का टुकड़ा दिखाकर यकायक उठा ले, ऐसा ही लगता है यह जीवन का क्रम। चाहे-अनचाहे किसी अज्ञात घड़ी उठा

लिया जाएगा यह अस्तित्व। वह क्षण हमारा चुना हुआ नहीं होगा। उस घड़ी पर हमारा कोई अधिकार नहीं होगा।

फिर हर आगत क्षण पर हमारी दृष्टि क्यों है ? किसलिए है ?

हमारा अन्त निश्चित है, फिर भी हम क्यों घृणा करते हैं, किसलिए प्यार करते हैं ? यहीं छूट जानेवाले उद्‌गारों का बोझ क्यों जीवन-भर ढोते हैं ?

3 जुलाई : कितनी ममता उस ममत्वहीनता में है जो नन्ही-नन्ही आशाओं-अपेक्षाओं को रोज-रोज के जीने-मरने से मुक्ति दिला देती है...एक ही बार में श्मशान का-सा सन्नाटा मन के द्वार बाँध जाती है।

17 अगस्त : बहुत, बहुत कुछ कहना चाहती हूँ पर कोई रूपाकार नहीं उभरता। जीने की पीड़ा अव्यक्त की पीड़ा से अधिक बड़ी लगती है...इसीलिए लिखना निरर्थक लगता है...एक खोखला शोर।

4 सितम्बर : किसी मकान के अन्दर घिरी हुई दैनिक जीवन को जीती इकाई का नाम ही तो नहीं है जीवन; वह सब भी तो है जो हमारे स्पन्दनों, स्फुरणों, अनुभूतियों और विचारों से बना है।

17 सितम्बर : एक ग़हरा शून्य, अटूट निस्तब्धता और कभी न समाप्त होनेवाला अकेलापन। न जाने यह अन्धकार कहाँ ले जाएगा। गीले ईंधन-सा भीतर कुछ जलता है। धुआँ-ही-धुआँ देता है, न ज्योति, न उष्णता।

3 अक्तूबर : अभिव्यक्ति के पाँव में बँधी हुई जंजीरों का बोझ और रुदन दोनों मेरे कानों तक पहुँचते हैं और अपने पर दया आती है। अब किसी बात का उत्तर नहीं बन पड़ता।

6 नवम्बर : कितना, कितना, कितना कुछ है जो अन्दर ही रह जाएगा। चिता की राख के साथ भस्मीभूत हो जाएगा। लपटों के सीने में धधकते बवंडर कौन देख पाएगा। एक लपट में सब कुछ जल जाता है। राँख हवाओं में मिल जाती है और राख बीज नहीं है।...बीज नहीं है तो फल नहीं, फूल नहीं, सुगन्ध नहीं...। सुगन्ध के सिवा और कुछ भी अनन्त है क्या ?

25 दिसम्बर : क्या केवल समय ही बीत रहा है ?...एक पूरी आयु

बीत रही है। साथ ही ढेर-सी आकांक्षाएँ और सपने...।

समय के बीतने का एहसास अपने बीतने के एहसास के साथ कितना जुड़ा हुआ है।

काली छायाओं की भीड़ में उलझ गया हूँ बेतहाशा बेहद थक गया हूँ। यह भी माँ थीं क्या ?...शान्त-सी दीखनेवाली सतह के नीचे इतनी बड़ी हलचल को समेटे...। मैं तो बस उसी माँ को जानता रहा हूँ जिसका स्नेहिल हाथ होस्टल जाते समय बहुत धीरे से मेरे सिर पर फिसलता था और आँख की पुतली किसी गहरे तालाब में चुपचाप डूब जाती थी।

माँ कभी भी बहुत खुश तो नहीं दीखती थीं, कभी बहुत आनन्दित भी नहीं, परन्तु हम सब इसे उनके स्वभाव की एक मुद्रा ही समझते थे। केशो मामा कभी आते थे तो कैलेंडरों पर पिछले महीनों के न फाड़े जानेवाले वर्कों को देखकर कहते थे, "अरे रानी, तेरे घर में क्या वक्त हमेशा ठहरा रहता है ? क्या बात है, कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ? कितनी कविताएँ लिख डालीं ?" माँ ऐसे में झट सब्जी का डोंगा हाथ में लेकर मामा को परोसती हुई बात पलट जातीं। इसका उत्तर पापा ही देते थे, "शी हैज ट्रिमेंडस पावर टू कीप हरसेल्फ अनहैप्पी।"

उस घड़ी माँ का पानी का घूँट गटककर उठ जाना क्यों मन में कोई प्रश्न पैदा नहीं करता था ?

क्यों हम सब एक बुझी हुई, निरानन्द और उदास माँ को देखने के आदी हो गए थे ? क्यों कोई प्रश्न नहीं करते थे ? क्यों मौत के सर्द हाथों से माँ को बचाने का प्रयत्न नहीं करते थे ?

क्यों हम सब माँ से सब कुछ चाहते थे और बदले में कुछ भी देने का आश्वासन नहीं देते थे ?

मौत के हाथ बहुत लम्बे हैं...वहाँ तक अब कोई नहीं पहुँच सकता ...बची हुई राख से कुछ नहीं हो सकता...राख बीज नहीं है..:बीज नहीं तो फल नहीं, फूल नहीं, सुगन्ध नहीं...!"

एक गहरा सन्ताप मन में भरने लगा है। अभाव की कील बिजली के नंगे तार की तरह सारे अन्तःप्रदेश को छूने लग गई है..."सब कुछ भीतर रह जाएगा, चिता की लपटों के साथ भस्मीभूत हो जाएगा," वे वाक्य बार-बार मेरे मन पर प्रहार करते हैं।

अपने को सच में समूचा ही साथ ले गई हैं माँ, कितना कम छोड़ गई हैं अपने को हमारे साथ। हमारे उनके बीच क्या सदा से एक शून्य ही था और उस शून्य का हमें पता तक नहीं था।

माँ के अचानक मरने के पीछे आखिर था क्या ?...क्या मात्र ऑपरेशन ? एक ऑपरेशन के बाद दूसरा ऑपरेशन, और दूसरे से तीसरे की सम्भावना के अनिश्चय काल में अचानक उनका उठ जाना।..."चुम्बक से पिन को तरह उठा लिया जाना।"...क्या माँ की जिजीविषा इतनी चुक गई थी...या इतने पराए जगत् का वह सामना नहीं करना चाहती थीं ?

और पापा ?...पापा तब से अब तक क्या सोच रहे हैं...? एकाएक चुप कैसे हो गए हैं ? वह तो हमेशा अकेले जूझने के समर्थक रहे हैं ? पुरुषार्थ, सत्ता और अधिकार-क्षमता को ही जीवन का दूसरा नाम मानते रहे हैं, और जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि 'सक्सेसफुल' होना...सब 'रिसोरसेज ऑफ लाइफ' को अपनी ओर मोड़ सकने का साहस रखना। जीवन के संघर्ष में कभी ऐसी भी आवश्यकता होती है, जब दूसरे का सहारा अपेक्षित हो, ऐसा वह कभी नहीं मानते रहे, पर अब ?

माँ को सितार बजाने, लिखने-पढ़ने और फूलों का बेहद शौक था। पापा इन सब बातों को 'शियर सेंटीमेंटेलिटी' कहते थे। ट्रांसफर के समय माँ की पुस्तकों को देखकर हर बार "गेट रिड ऑफ दिस अन-नेसेसरी लोड" यही कहा करते थे। माँ उस समय जो भी सोचती हों। फूल सजाने की सुरुचि और सितार बजाने के अलंकरण को तो पापा कुछ हद तक सहन भी कर लेते थे, शेष सबको मैच्योरिटी तक आने से पहले का ज्वार समझते थे।

जीवन को अपनी तरह की गति से बाँधकर रखा है पापा ने सदा और अपने साथ चलनेवालों को उसी गति से दौड़ाया है।

इस दौड़ में पहल करनेवाले पापा अब एकाएक स्तब्ध कैसे हो गए

हैं ? किस सोच में डूब गए हैं ? क्या साल रहा है उन्हें ?...दूसरों के कन्धों के सहारे पर विश्वास न रखनेवाले पापा शायद न सोच पाते हों कि इन सबके लिए भी...इसे न पाने की पीड़ा में भी कोई मर सकता है... चुक सकता है। माँ का एक्सटेंशन...पूरा मरना...पूरा जीना क्या कभी पापा की समझ में आया होगा..."व्हेयर इग्नोरेंस इज ब्लिस ?"...

एक असभ्य आन्तरिक आक्रोश से सब कुछ तोड़-फोड़ डालने की इच्छा होती है। दालान में लगे बल्ब को पास रखे पत्थर से चकनाचूर कर देने की, और पापा को दालान के ठंडे सर्द अँधेरे में अकेला छोड़ देने की...सुलगते सिगार की व्यथा के साथ...एकदम अकेले...माँ की मौत से फैले, सहमे हुए ठंडे आतंक के बीच पूरी तरह जीवित और त्रस्त !...

बाहर आकर देखता हूँ, पापा कुछ ऊँघ-से गए हैं। ठंड बढ़ गई है। दालान की रोशनी रोती-सी फीकी लग रही है।

मैं थोड़ी देर खड़ा पापा को देखता हूँ...झकझोरकर पूछना चाहता हूँ, "अब आपको कौन नाखुश रख रहा है अनलेस यू युअरसेल्फ वांट इट। सत्ता और अधिकार का राजदंड हाथ में पकड़े रहने पर भी आपके सन्तुलन को कौन बिगाड़ रहा है ?..."

पर देखता हूँ सिगार तो बुझ चुका है और पापा का हाथ आरामकुर्सी पर वैसा-का-वैसा ठहरा हुआ है। सो जाने से एक ओर को झुका हुआ मुँह कुछ अधिक झुर्राया हुआ लग रहा है। बहुत रोते-रोते थककर सोए हुए बच्चे की तरह पापा उस समय बड़े निरीह और निस्सहाय-से लग रहे हैं—अपने अहंकार के लबादे से पूरी तरह मुक्त।

मैं थोड़ी देर खड़ा उन्हें देखता रहता हूँ। आँख हटाने की इच्छा नहीं होती। जगाने की नहीं, सामना करने की भी नहीं। मैं धीरे से सिगार उनके हाथ से लेता हूँ और अन्दर से एक दोशाला लाकर उनके पैरों पर डालने को होता हूँ कि वह हड़बड़ाकर जाग उठते हैं और नींद में आँखें मलते हुए पूछते हैं, "तेरी माँ सो गई क्या ?"

"हाँ ! सो गई है...सो गई है पापा !" तन्द्रा में उनके साथ सोए

पड़े किसी मीठे कोमल भ्रम की हत्या कर देने की इच्छा नहीं होती, पर अपने मन की आँधी...?

इस वाले पापा को माँ जानती थी क्या ?

माँ को क्या पता था कि इस कछुए की-सी त्वचावाले व्यक्ति को तोड़ पाना कितना आसान है...कितना सरल है इन्हें छील पाना...खोल पाना। दीवार की जरा सी टेक हटाकर दीवार की-सीं निस्पन्द ईंट में इन्हें परिवर्तित कर पाना...

जीवन के न्याय से इतनी जल्दी विश्वास में उठा लिया माँ...क्यों उठा लिया ?

क्या तुम प्रतीक्षा नहीं कर सकती थीं, माँ ? कुड यू नॉट वेट ? ...कुड यू नॉट ?

जून, 1979